कृष्णा सोबती के उपन्यासों में नारी

अनुपमा तिवारी

अलायंस विश्वविद्यालय

फोन – 8886995593

ई- मेल – anupama.tiwari@alliance.edu.in

समाज में परिव्याप्त, स्त्रियों के दुःख - दर्द के साथ ही साथ उनके सशक्त व्यक्तित्व को व्यापक रूप से मानवीय धरातल पर अभिव्यक्ति देने वाली ज्ञानपीठ पुरस्कृत लेखिका कृष्णा सोबती का साहित्य प्रतिरोध, आत्म सम्मान और स्वाधिकार के चेतना का साहित्य है। वैसे तो लेखिका स्वयं को लेखिका मानती ही नहीं। वे कहती हैं "जब मैं लिखती हूँ तो याद नहीं रखती कि मैं महिला हूँ या पुरूष। लेखक प्रथमतः सिर्फ लेखक होता है महिला या पुरूष नहीं"। (समकालीन साहित्य समाचार पत्रिका, अंक जून 1995 पृ. सं. 33)। समकालीन हिन्दी कथा साहित्य के क्षेत्र में स्त्री को केन्द्र में रखकर दर्जनों लेखिकाओं ने हिन्दी साहित्य में पदार्पण किया और बहुधा सबने स्त्री के दुःख, शोषण, पराश्रित व निरीह छवि को प्रस्तुत किया। मात्र कृष्णा सोबती ही एक ऐसी लेखिका हैं जिन्होंने स्त्री के हर रूप को बड़ी ही तल्ख और बेबाकी से प्रस्तुत किया है। (1958) में प्रकाशित 'डार से बिछुड़ी' उपन्यास में लेखिका ने पाशो के माध्यम से एक ऐसी असहाय और बेबस चिड़िया का वर्णन किया है जो एक बार परिजन की यातनाओं से ऊबकर, अपने घोसले का परित्याग कर स्वतंत्र उड़ान भरने के लिए निकल पड़ती है तो समाज में पुरूषों के वर्चस्व और कुटिलताओं के चलते उसका अस्तित्व ही निर्मूल्य हो जाता है।

पाशो की माँ वैधव्यावस्था में अपने मायके के भरे - पूरो परिवार को छोड़कर शेख से विवाह कर उसके महल की पटरानी बन जाती है। पीछे छोड़ जाती है, पाशो को जीवन भर संघर्ष करने के लिए। मातृत्व भावना नदी के सदृश होती है, साफ स्वच्छ, निश्छल, प्रवाहमय, शांत। पर जब नदी प्रकोप करती है, तो तबाही मचाती है। माँ कभी भी अपने बच्चों के प्रति अन्याय, दुर्व्यवहार को सह नहीं पाती उसके प्रति विद्रोह करती है और संतान के सुख के लिए सर्वस्व समर्पित कर डालती है। परन्तु, पाशो की माँ के भीतर, स्त्री का वह ममत्व स्वार्थी है, जिसने निजभोग के लिए अपनी ही संतान का परित्याग कर दिया। यह स्त्री का संतान के प्रति का भयावह रुख है। दूसरी ओर पाशो के मामा और मामियों का आतंक। फतेहअली के बेटे को हाथ से कढाई की गई एक रुमाल भर दे देने पर "तन्दूर" के पास पडे लकड़ियों के ढेर से एक छड़ उठा कड़े हाथों फिर मारने लगे। 'तेरी ऐसी करतूतें।' तड़पी, रोई - धोई पर मामू तो थमे नहीं। लहू बहता देख ऐसी डरी की घिग्घी बँध गयी। मामू का पैर पकड़ कर सिर पटकने लगी – "और न मारो मामू, मैंने तो कुछ नहीं किया ----" (डार से बिछुडी पृ. सं - 18) स्त्री की परम्परागत छवि का एक आयाम यह है कि उसे चंचला और सदा आश्रय की खोज में रहनेवाली समझा जाता है। शील, कौमार्य और सतीत्व का इस छवि के साथ ऐसा गठबंधन है कि अपनी पवित्रता को प्रमाणित करने के लिए सीता जैसी तेजस्वी साधवी को भी अग्नि परीक्षा के बावजूद निर्वासन और भूमि प्रवेश तक से गुजरना पड़ा है। यहाँ भी निर्दोष होते हुए, पाशो शक की चक्की में निर्ममता से पीसी जाती है और उपेक्षा, तिरस्कार, अवहेलना उसकी नियति बन जाती है। इस आतंक भरे कैद खाने से निकल कर जब वह माँ के पास शेख के घर जाती है तो वहाँ भी अर्धरात्रि के समय एक वयोवृद्ध के साथ शेख के द्वारा निर्जन जगह भेज दिया जाता है। विधना के लिखे को स्वीकार कर जब पाशो दीवान को अपना प्राणनाथ मानकर उसके बच्चे को जन्म देती है उसमें कुछ महीनें पश्चात दिवान जी के दिवंगत हो जाने पर उसकी संपत्ति का मालिक बनने के लिए पाशो और उसके बेटे के भय से बरकत दिवान, पाशो को एक ऐसे घर में बेच देता है जहाँ तीन बेटे सहित एक बूढ़े पिता रहते हैं। पाशो बेटे के विछोह में अधमर्री हो चुकी है परन्तु उसके आँसुओं को समझने वाला कोई नहीं, "भावभरी, यह घर - बाहर संभाल और द्रोपदी बनकर सेवाकर मेरे बेटों की।" (डार से बिछुडी - 85) बरकत दिवार खत्री होते हुए भी घर की बहू बेच दी। पाशो के संघर्ष का अंतिम पड़ाव उसका एक मुंहबोला वीर था जो उसे संरक्षण देता है, मानवता व करूणा से उसे अभिसिंचित कर उसकी कद्र करता है, परन्तु अंत में वह भी युद्ध में वीर गति प्राप्त करलेता है। कृष्णा सोबती के इस उपन्यास में स्त्री के वस्तूकरण को प्रस्तुत किया है। स्त्रि विषयक संदर्भों में पुरूष की भूमिका शोषक की रही है अथवा उद्धारक की। पुरूष संस्कृति ने पितृसत्ता के माध्यम से पुरूष को अर्थ सम्पन्नता और स्वामित्व के अधिकार सौंपे हैं, और स्त्री की नियति में अधीनता, अर्थ पर निर्भरता और दासत्व ही आया। यही व्यवस्था पुरूष के वर्चस्व को ताकतवर बनाती है और स्त्री को कमजोर। पाशो के जीवन में जितने भी पड़ाव आये वहाँ समस्या प्राणों की रक्षा की नहीं अपितु सतीत्व के रक्षण की है। पाशो के मामा, उसके पिता, दिवान जी, उसके देवर और

मझले सभी पुरूषों ने पाशो को उपेक्षित और भोग्या के रूप में ही स्वीकार किये। किसी भी पुरूष का दंभ पाशो के इस व्यथा को नहीं समझ पाया कि, आखिर अपने बच्चे से बिछुड़ी माँ के साथ, मानवता दिखाई जाये, पुरूष के वर्चस्व ने यह नहीं समझा कि विधवा स्त्री को उसके बच्चे से विलग कर किसी और के यहाँ बेच देना उसके हत्या कर देने के समान है। किसी पुरूष का ईमान इस बात से नहीं डगमगाया कि आखिर एक माँ को उसके बच्चे के पास पहुँचा ही दिया जाये। हमारे समाज में स्त्री को भोग्य और पण्य वस्तु समझा जाता है। स्त्री के इस वस्तुकरण के संबंध में जॉन स्टुअर्ट मिल ने यूरोप के इतिहास के इस दौर का हवाला दिया है। "जब स्त्रियाँ पिता द्वारा पति के हाथों बेची जाती थीं। बाद में चर्च द्वारा इस स्थिति में सुधार के बाद भी वास्तविकता यही है कि उसे पाल – पोसकर तैयार किया जाता है - यानी किसी पुरूष का घर संभालने और संतानोत्पत्ति के लिए। उस घर में भी कानूनी तौर पर उसका कोई अधिकार नहीं होता। बच्चे भी कानूनन पति के ही होते हैं, जिसे बदलने तक का हक उसे नहीं होता।" (जॉन स्टुअर्ट मिल, अनुवादक - प्रगति सक्सेना (सं. प्रस्तावना – कात्यायनी सतम, पृ. सं. 29) पाशो के जीवन में कहीं कोई ठहराव नहीं आया। अंग्रेजों की लडाई के बाद और जीवन में छाये हुए संघर्ष के पश्चात अंततः पाशो अपनी बिछड़ी डार से मिल तो जाती है परन्तु धर्मांध, परम्परा भीरु समाज में क्या उसे प्रतिष्ठित स्थान मिल पायेगा ? सामाजिक वर्जनाओं और परिवार के उत्पीडन से व्यक्ति पाशो के मौन की कहानी वर्तमान समय में भी पाठकों के समक्ष एकाधिक स्तरों को व्यंजित करती है तथा विश्लेषण के अनेक मर्म खोलती है। परम्परागत रूढियों से पीड़ित वातावरण में स्त्री के अंतरतम भावनाओं एवं संघर्ष के अंतहीन सैलाब को कृष्णा सोबती ने सशक्त भाषा शैली में प्रस्तुत किया है।

साहित्यकार अपने परिवेश से ही सामग्री एकत्रित करता है और उसे कलम और भावनाओं से सजा कर एक नए मूर्त आकार दे देता है। कृष्णा सोबती ने पाशो के दर्द को देखा और स्त्री के परंपरागत अबला छवि स्वरूप को ऐसा प्रस्तुत किया जो कि अंतर्मन को झिंझोड़ कर रख देता है। लेकिन दूसरे ही कृति 'मित्रो मरजानी' (1966) में उन्होंने पंजाबी परिवेश के एक ऐसी स्त्री पात्र का गठन किया जो आज भी प्रासंगिक और नवीन है। मित्रो मरजानी के बाद ही लेखिका ने समकालीन साहित्यकारों में अपनी एक विशिष्ट जगह स्थापित कर ली। उपन्यास में गुरुदास और धनवन्ती की तीन बहुएं सुहागवन्ती, सुमित्रावन्ती और फुलावन्ती को तीन अलग किरदार के रूप में लेखिका ने प्रस्तुत किया है। एक तरफ घर की बड़ी बहू सुहागवन्ती जो परिवार को एक जुट बनाए रखने व घर में शांति बने रहने के लिए दिन - रात प्रयत्न करती है। इस उपन्यास में सुहाग प्रतीक है - भारतीय संस्कृति के आदर्श स्त्री छवि की। जिस समय कृष्णा सोबती ने इस लघु उपन्यास की रचना की उस समय भारत देश में संयुक्त परिवार की महत्ता अधिक थी। परस्पर मिलकर घर परिवार का खर्च उठाया जाता था, लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती थी, समाज में आपसी एकता के उदाहरण दिए जाते थे, अतः सुहागवन्ती सास ससुर का मान सम्मान अपने माता पिता के समान करती। उसकी सेवा कर्तव्य से धनवन्ती निहाल हो, लाख आशीष देती। छोटी बहू फूलावंती को लेखिका ने अशिष्ट और तुच्छ मानसिकता रखने वाली स्त्री के रूप में प्रकट किया है। जहां बड़ी बहू तिनका तिनका सहेज कर घरौंदे में खुशहाली बिखरने का यत्न करती है वहीं फूला अपने मायके पर घमंड करते हुए, ससुराल के लोगों से वैमनस्य रखती है, और अपरोक्ष रूप से अपनी सास और जेठानी का कहीं न कहीं अपमान भी कर देती है। बीमारी का स्वांग रचा, अंततः पति गुलजारी लाल के साथ मायके में ही रहने लगती है। वहां भी अपनी भाभियों के साथ झूठीबातें बताकर उनकी सहानुभूति पाना चाहती है। गुलजारी लाल फूलावन्ती के लिए माता - पिता व खुशहाल परिवार छोड़कर ससुराल में आ धमका लेकिन फूला स्वार्थी प्रवृत्ति की स्त्री है उसे अपने सुख से सरोकार है। न ही वह अच्छी बहू बन पाई और न ही आदर्श पत्नी।

कृष्णा सोबती ने संयुक्त परिवार की समस्याओं का सूक्ष्म पड़ताल कर इस उपन्यास में फूला के चरित्र को गठित किया है। फूला आलसी व कामचोर है, उसमें मात्र सुख साहबी की प्रवृत्ति है वह भी बिना श्रम किए। जब ससुराल में उसका सिक्का जम नहीं पाता तब मायके का रास्ता माप लेती है। तीसरी और मंजिलें बहू हैं सुमित्रावन्ती। सुमित्रा हिंदी कथा साहित्य में ऐसी पात्र है जिसका चरित्र पुनः उसी रूप में फिर से मिलना दुर्लभ है। 'सोबती एक सोहबत' में मित्रों के जन्म की दिलचस्प कथा यह बताया गया है कि "डूंगर के पास भवन निर्माण प्रक्रिया में व्यस्त मजदूर मजदूरनियों, ठेकेदारों की भीड़ में लेखिका को अचानक सिर पर बोझ उठाए एक जीती जागती काया हरियाली क्यारी सी दिखी कि वह दम साध कर उसे पैनी लेखकीय नजरों से तौलने लगी। यौन से गदराया यह गात, तिस पर अलबेली अदाओं की सोच। झाड़ियों की सीध तनिक गर्दन घूमी। ठेकेदार को पास आते देखा तो उठाकर कांकरी मार दी। इधर तो देखना मत ठेकेदार जी, लहंगडू की मांद में अड़ गए तो गए काम से। अधेड़ ठेकेदार का चेहरा लिप गया।" (सोबती एक सोहबत, कृष्णा सोबती, पृष्ठ संख्या- 20) एक दूसरा प्रसंग भी है। लेखिका शहर की पुरानी खस्तर बस्ती में से गुजर रही थी कि कानों में पड़ी किसी द्वंद नागिन की फुंफकार, "अम्मा अपने पहलवान बेटे को किसी हकीम के पास ले जा यह लीला उसके बस की नहीं।

प्रत्युत्तर में उस नागिन का फन तोड़ने का प्रयास चटक - चटक।

मारो - मारकर गाड़ दो मुझे इस संताप से तो छुट्टी हो।" (सोबती एक सोहबत, कृष्णा सोबती, पृष्ठ संख्या - 21) इस प्रकार जब डूंगर छबीली, शरबती और शहर की पुरानी खस्ता बस्ती की क्रुद्ध नागिन को मित्रों में पिरो कर लेखिका सृजन करने बैठती है तो उसके लिए स्वाभाविक हो गया अपने लेखन पर अंकुश दर अंकुश लगाना। किनारों को तोड़ती बाढ़ को रोकने के लिए नहीं, बल्कि उसके उन्मुक्त बहने के लिए। यही अंकुश मित्रों की सर्जना में अमरत्व फूंकते गए। मित्रों प्रतीक है अधिकार के सजगता की, मित्रों प्रतीक है- सुधारवादी दृष्टिकोण की, मित्रों प्रतीक है - आदर्श बहू, बेटी और पत्नी की, मित्रों प्रतीक है - पूज्य स्त्री की। परिवार को एकता में बांधे रखने का काम सुहागवन्ती करती है और मित्रो उसका साथ देती है। फूलावन्ती के अभद्रता पर वह उसे आड़े हाथों ले लेती है - मंझली ने हाथ फैलाया - मैं तेरी जमदूती, बस ! तूने सास से टक्कर ली मैंने, माना, पर जिसकी तू जूती बराबर भी नहीं अब उसकी इज्जत पट उतारने चली है। (मित्रो मरजानी, पृष्ठ 33) इस उपन्यास में मित्रों का किरदार गढा ही इसलिए गया है कि एक उच्छृंखल स्त्री के भीतर की गुणवत्ता को समाज से परिचित कराया जा सके। जिस परिवेश से मित्रों आती है, नामदार परिवार में उसे बहू के रूप में स्वीकार करना भी एक साहस है। अशिक्षित, बेबाक, तेज तर्रार मित्रों जैसी स्त्री के व्यवहार को सामान्यतः यही समझा जाएगा कि वह लोलुप, स्वगत या फिर कंजड़िन स्वभाव की ही होगी परंतु कृष्णा सोबती ने उसे परिवार को जोड़े रखने की कला में भी पारंगत दिखाया है। लाज शर्म, रूढ़ी परंपरा सबको परे सरका कर मित्रों सिर्फ और सिर्फ अपने मन का करती है। उसके अद्भुत सौंदर्य को तृप्ति, पति सरदारी लाल से नहीं मिल पाती। इस तृप्ति प्रेम में मात्र संभोग का ही स्थान नहीं बल्कि पति के प्रेम व स्नेह की अभिलाषा भी है - "जेठानी, तुम्हारे देवर सा बकलोल कोई दूजा ना होगा। न सुख दुख, न प्रीति प्यार, न जलन प्यास…...बस आए दिन धौलधप्पा…...लानत मलामत।" (मित्रो मरजानी, पृ. सं. - 18) मित्रों के इन शब्दों में कोमल स्त्री मन भी उतनी ही मुखरित है जितना उसके अन्य संवादों में उसकी देह की उपस्थिति। प्रेम और परिवेश का प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व को पलट कर रख देता है। मित्रों की मां पर पुरुषों से संबंध स्थापित कर, अपनी आजीविका चलाती है और बेटी को यही सीख विरासत में मिल जाती है। सासरे में जब कभी मित्रों अन्य पुरुषों से उन्मुक्त हो बातचीत करती या भावज होने के नाते हास - परिहास ही करती तो हंसी को भी शक की कुदृष्टि से परखा जाता और पति सरदारी लाल उसे पीटते। पड़ोस की कानाफूसी से ऊबकर, सोने के झुमक गढा, धनवंती जब बहू को बेटे के साथ मायके भेजती है तो वहां बालो' मित्रों की माँ उसे जिस अधिकार के पास रात बिताने के लिए भेजती है, मध्य रात्रि में उसके समीप जाते समय मित्रों का मन विचलित हो उठता है, उसकी अंतर्रात्मा अपराध बोध से भर उठती है। एक भरे - पूरे और सम्मानित परिवार में रहते हुए मित्रों के मन में अनायास जो संस्कार बस गए थे, वे संस्कार ही उसे पर पुरुष संबंध बनाने से रोक लेते हैं।

कृष्णा सोबती ने पंजाबी परिवेश के इस उपन्यास में हर प्रकार की स्त्री के स्वरूप को गढ़ा है वह भी आंचलिक भाषायी चेतना के साथ। आज तक हिंदी साहित्य में इस प्रकार की कोई दूसरी मित्रों अब तक नहीं आ पाई यह कृष्णा सोबती के लेखन की उपलब्धि है। अपने तीसरे उपन्यास 'यारों के यार तिन पहाड़' (1988) में कृष्णा सोबती ने जया के माध्यम से प्रेम के बदलते मूल्यों को व्यक्त किया है। शिल्प की दृष्टि से तिन पहाड़ वर्णनात्मक एवं रहस्यात्मक कृति है जिसमें बिंबो, प्रतीकों एवं पूर्व दीप्ति शैली के माध्यम से जया की पीड़ा को व्यक्त किया गया है। उपन्यास में 'श्री दा' पहले तो जया पर अपना आधिपत्य जमाते हुए उसे मंगेतर बना लेते है, परंतु दूसरी ओर डायना के साथ विवाह करके जया का तिरस्कार करते हैं। कृष्णा सोबती ने स्पष्ट किया है कि आज भी निरंतर तिरस्कार और अपमान अधिसंख्य स्त्रियों की नियति है। स्त्री को एक ओर तो रहस्यमय शक्ति और देवी कहकर साधारण मनुष्यत्व से वंचित किया गया तथा दूसरी ओर कमजोर, पराश्रित , भोग्या और अबला के रूप में देखा गया तथा वस्तु बनाकर उसे पुनः मनुष्यत्व से वंचित किया गया। संकोच की दरिया में ढली हुई स्त्री एक ऐसी मादा में परिवर्तित हो जाती है, जिसकी जिंदगी रोटी, कपड़ा और मकान की उपलब्धता के अहसान तले सीमित हो जाती है। अहसान के इन्हीं दीवारी में कैद होकर जया श्रीदा की प्रतीक्षा में रत स्वर्णिम क्षणों की कल्पना में डूबी रहती है परंतु डायना के साथ श्री दा का विवाह जया की कल्पनाओं को बदरंग और बेहाल कर देता है। अपनी क्षणभंगुर प्रेम की कोपलों को ध्वस्त होते देखकर जया जब श्री दा के परिवार का परित्याग कर 'तपन' का वरण करती है तो वहां भी पहले से तपन के साथ पुतुल के संबंधों को जान उनके मध्य दरार बनने की भिज्ञता अर्थात निरर्थक, उद्देश्यहीन भविष्य जीने का कटु बोध जया को खोखला कर देता है और अंततः वह नदी में समाधि ले लेती है।

प्रेम मनुष्य को ऊर्जावान बनाकर उसके जीवन में निरंतर गत्यात्मकता बनाए रखता है, परंतु प्रेम की प्रवंचना से स्वयं को ही मिटा लेना यह भीरुता है। उपन्यास के अंत में जया का जल में विलय होना दिखाकर कृष्णा सोबती ने कमजोर स्त्री को अत्यधिक कमजोर के रूप में दिखाया है, जो अनुपयुक्त है। जीवन में बिना किसी का साथ पाए भी, बहुत कुछ पाया जा सकता है। समाज में अपनी मर्यादा और प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए, व्यक्ति को स्वयं संघर्ष करना पड़ता है, प्रेम तो एक माध्यम है - संघर्ष के मध्य

आये थकान को बांटने का। 'सूरजमुखी अंधेरे के' की रत्ती, जया से कहीं बेहतर है। जिसका यौन शोषण बाल्यकाल में ही हो गया था, कामवासना और प्रेम जैसे शब्दों पर से जिसका विश्वास ही डगमगा गया था, अपने ऊपर लगे आक्षेपों का जिसने हर क्षण प्रतिशोध लिया वह स्त्री समाज में अन्य स्त्रियों के लिए प्रेरक है, न कि तिन पहाड़ की जया। बाल्यावस्था में ही हुआ बलात्कार 'सैक्सुअल फ्रिजिडिटी' के रूप में रत्ती के अंतःमन में पैठ गया। उस दयनीय स्थिति में भी में हमारे सभ्य समाज के लोग रत्ती के साथ सहानुभूति व आत्मीय संबंध दिखाने के बजाय उसका उपहास करते हैं, 'गंदी लड़की' शब्द से संबोधित करते हैं। स्त्री के साथ हुए पुरुष सत्तात्मक समाज में के इस व्यवहार को देखकर तस्लीमा नसरीन का यह कथन अनायास ही जेहन में आ जाता है कि - "नारी जो तुम मुंह के बल पड़ी हो तुम्हारे सारे बदन पर पुरुष के पैने दांतों के निशान हैं। तुम्हें सुनने के लिए आया एक कुत्ता भी दर्द के मारे नीला पड़ जाएगा। तुम्हें देखने के लिए आए चील भी अपने नाखून छिपाएंगे फिर भी यदि कोई काटे तो वह कोई सूअर भी नहीं, कोई काला नाग भी नहीं सिर्फ कोई पुरुष ही होगा।" सभ्य समाज की यही हैवानियत रत्ती के साथ भी दिखाई पड़ती है। हमारे समाज की दूसरी विडंबना यह है कि यदि एक बार किसी का सतीत्व या स्त्रीत्व, परोक्ष अपरोक्ष किसी बहाने ढीला पड़ गया तो आजीवन समाज की आंखें उसे हल्के दृष्टि से ही आँकती हैं, क्योंकि गरीब की लुगाई सबकी भौजाई। हर पुरुष उसके साथ खेलना चाहता है और अंत में खिलौने को तोड़, फेंक देना चाहता है। रत्ती के जीवन में कई पुरुष आते हैं, परंतु उसके मन को समझने नहीं, उसके मदमाते रूप से अपने मन को तृप्ति देने के लिए। कामना पूर्ण न होने पर 'ठंडी औरत' की संज्ञा से अभिहित कर आगे बढ़ जाते हैं। लेकिन धरती पर अभी भी मानवता और सहृदयी लोग हैं, जिनके चलते हमारी संस्कृति बची है। सूरजमुखी अंधेरे के में अलगाव से जूझती एक ऐसी स्त्री की व्यथा है जिसने अपने जीवन के उत्तरार्ध में वह चुना जिसे उसे बहुत पहले चुन लेना चाहिए था ।

कृष्णा सोबती के उपन्यास में विविध प्रकार की नायिकाएं हैं यथा निरीह व पराश्रित (डार से बिछुड़ी की पाशो और उसकी माँ), स्वेच्छा पूर्वक अधिकार पूर्ण जीवन जीने वाली (मित्रो मरजानी की मित्रो) शील व विनम्र (मित्रों मरजानी की सोहाग वन्ती) तुच्छ बुद्धि व कुटिल विचारों वाली (मित्रों मर जाने की फूलावन्ती), समस्याओं से मुंह मोड़ने वाली (तिन पहाड़ की जया), समाज के सभी रूढ़ियों एवं समस्याओं का प्रतिरोध करने वाली (सूरजमुखी अंधेरें के की रत्ती)। आपकी सभी नायिकाएं विविध रूप व व्यवहार के साथ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की गई है, साथ ही ये स्त्रियाँ अपने प्रेम व शरीर की जरूरतों के प्रति किसी भी तरह के संकोच या अपराध बोध की भावना से पूर्णतः मुक्त हैं। वर्तमान समय में वह भी दबी कलम से यौन जीवन के अनुभवों पर जो, कथा साहित्य लिखा जा रहा है, कृष्णा सोबती ने चार - पाँच दशक पूर्व ही इस प्रकार के लेखन से अपने अदम्य साहस का परिचय देते हुए हिंदी साहित्य में एक नई विचारधारा का प्रणयन किया। मेरी दृष्टि में दूसरी विशेषता सोबती के उपन्यासों की यह है कि उन्होंने अपने साहित्य में कहीं भी पुरूष की अपेक्षा या अवहेलना नहीं दिखाई है। कथा के विस्तार में उनकी नायिकाएं जहां कहीं भी अपने ऊपर हुए अत्याचार का अतिक्रमण करती हैं, वहां वे दोषी पुरुष को नहीं बल्कि परंपराओं, वर्जनाओं एवं रूढ़ियों का अतिक्रमण करती हैं। यह होना भी चाहिए। यदि समाज में स्त्री के शोषक हैं तो उसके उद्धारक भी हैं। स्त्री के समुचित स्थान को दिलाने के लिए उसमें शोषक के साथ-साथ यदि उद्धारक को अधिक व्यापक रूप से प्रस्तुत किया जाए तो उनके गुणवत्ता के प्रभाव से दूसरे भी प्रभावित होंगे। जैन धर्म में एक सिद्धांत है, निर्जरा सिद्धांत। निर्जरा का अर्थ है 'ट्रैजिक फ्लॉ'। जैसे कोई दोष सदियों से हमारे भीतर छिपा हो तो उसके निवारण में बहुत कष्ट होता है। हमारी आत्मा यदि कोई गलत कार्य करने को प्रवृत्त होती है तो हमें पहले घबराहट होती है, लेकिन एक बार सफलता मिल जाने पर हम उसके आदी हो जाते हैं और बार-बार वही गलती करने लगते हैं। ऐसे में निर्जरा सिद्धांत पर ध्यान देना पड़ता है। पुरुष समाज ने शदीयों से स्त्री शरीर का इतना विघटन पूर्ण कार्य किया है कि उसमें बदलाव की इच्छा रखने के बावजूद भी उससे गलतियाँ हो जाती हैं। उसका मन ऐसा करने से उसे रोकता है। मन की यही समझ निर्जरा प्रक्रिया से जुड़ती है। अर्थात सदियों से चली आ रही पुरुष की मानसिकता को एक क्षण में बदला नहीं जा सकता। कृष्णा सोबती ने अपने उपन्यासों में पुरुष को हिंसक रूप देने से बचाया है। यह एक नया दृष्टिकोण है। सोबती का साहित्य प्रतिरोध का साहित्य है, जिसमें रूढ़िवादी परंपरा का प्रतिरोध मुखरित हुआ है। अपने लेखन के इसी सुदृढ़ता, निडरता, पारदर्शिता, बेखौफ वाचालता, संवेदनशीलता और विषय वस्तु की नवीनता की दृष्टि से कृष्णा सोबती की प्रतिष्ठा समकालीन साहित्य में अन्य साहित्यकारों की तुलना में विशिष्ट रूप में समादृत है। अपने प्रत्येक उपन्यास में रचना की एक नई भूमि लेकर उपस्थित होने वाली कृष्णा सोबती निश्चय ही हिन्दी साहित्य में अन्यतम विभूति हैं। घर की चहारदीवारी के भीतर उभरी - दबी पारिवारिक समस्याओं तक सीमित न रहकर समाज के व्यापक संदर्भों से जुड़कर आपने जनहित में उत्कृष्ट सृजन किया है।